



सागरिका संस्कृत पत्रिका में प्रकाशित संज्ञा सम्बन्धी लेखों का अनुशीलन

डॉ. रामबाबू

सहायक आचार्य—संस्कृत, महारानी श्री जया राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भरतपुर (राज.)

भारतीय संस्कृति के अनुरागी महामनीषी डॉ. हरिसिंह गौर ने सागर विश्वविद्यालय की स्थापना कर संस्कृतसम्बर्द्धन रूपी यज्ञ में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। इन शाश्वत प्रयासों को सतत् रखते हुए भारतीयता के साकार विग्रह डॉ. रामजी उपाध्याय ने सन् 1962 में सागर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग से 'सागरिका' त्रैमासिक पत्रिका का शुभारम्भ किया। प्रथम वर्ष में यह पत्रिका षाण्मासिकरूपेण प्रकाशित हुई। इसलिए प्रथम वर्ष में केवल दो ही अंक प्रकाशित हुए। सन् 1963 से उपाध्याय जी महोदय द्वारा स्थापित 'सागरिका समिति' से त्रैमासिक रूप में छपने लगी। इसके पश्चात् उपाध्याय जी द्वारा स्थापित 'संस्कृत परिषद्' द्वारा इसका प्रकाशन होने लगा। सागर विश्वविद्यालयीय यह परिषद् संस्कृत-भारती की चिरजीवन्तता को बनाये रखने के लिए पत्रिका प्रकाशन के साथ विश्वविद्यालय में 'नियमित संस्कृत गोष्ठियों' का भी आयोजन करती है।

सागरिका पत्रिका के लेखों की विषय सामग्री नाटक, व्याकरण, दर्शन एवं साहित्य प्रधान है। इसी इन सभी विषयों में से व्याकरण परक लेखों में से संज्ञा परक लेखों का शोध पत्र में विशेष विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रत्येक भाषा अपने व्याकरण पर निर्भर रहती है, संस्कृत भाषा तो पूर्णतया व्याकरण भाषा है। पाणिनि कृत—अष्टाध्यायी इस भाषा के लिए मस्तिष्क का कार्य करती है। संस्कृत विद्वानों ने इस ग्रन्थ के प्रत्येक स्वरूप पर विचार विमर्श किया है। चाहे वह परिभाषा सूत्र हो, नियम सूत्र हो, सन्धि हो, समास प्रकरण कारक—प्रकरण। प्रारम्भ में भाषा में व्याकरण की उपयोगिता को बताने के लिए अष्टाध्यायी का महत्त्व प्रतिपादन किया है। तत्पश्चात् सूत्र लक्षण को प्रस्तुत करते हुए छः प्रकार के सूत्र बतलाते हैं—

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।

अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्।।¹

संज्ञा ज्ञान के बिना शास्त्र की सम्यक् प्रतिपत्ति और यथास्थान प्रवृत्ति दोनों ही नहीं हो सकती है। इसी प्रकार –

“सन्धि संस्कृत के स्वरूप की घटक है। यह संस्कृत का भूषण भी है, पर यह भूषण आरोपित अथवा आहार्य नहीं। राधेय कर्ण के स्वर्ण-कुण्डल की तरह सहज है। सन्धि सरलीकरण अथवा समीकरण का उत्तम उपाय है।”²

भारतीय संस्कृति का स्रोत एवं राष्ट्रभाषा हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं की जननी संस्कृत भाषा का अध्ययन उसका व्याकरण अत्यन्त वैज्ञानिक एवं सुव्यवस्थित है। शुद्ध एवं परिमार्जित भाषा जिसे वैदिक काल में भाषा मात्र कहा जाता था उसके गहन अध्ययन की बात हो अथवा भाषा अध्ययन का आरम्भ, संज्ञा-प्रकरण भाषा ज्ञान का आधार स्तम्भ है।

आचार्य पाणिनि इस प्रकार की संज्ञा को परिभाषित करते समय “परः सन्निकर्षः संहिता”³ कहते हैं। अर्थात् उच्चारण में वर्णों के पर सन्निकर्ष को संहिता कहते हैं। यथा ‘कृष्णः’ से के ऋ, ष, ण् अ अ विसर्जनीय में संहिता है। इस प्रकार के सन्निकर्ष के होने पर जो ध्वनि में विकास उत्पन्न होता है, उसे सन्धि कहते हैं। यह सन्धि कहाँ आवश्यक है? और कहाँ ऐच्छिक है? इस विषय में व्याकरणशास्त्रियों की एक कारिका प्रसिद्ध है –

“संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।

नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते।।”⁴

इस प्रकार संस्कृत भाषा के मूल ज्ञान के लिए आवश्यक संज्ञा प्रकरण शोध पत्र लेखन के लिए विद्वत् समूह का सर्वप्रिय विषय रहा है। यह बात विभिन्न संस्कृत शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित संज्ञा आधारित शोधालेखों की संख्या से साक्षात् स्पष्ट हो जाती है।

श्रीराधावल्लभ त्रिपाठी के सुकुशल एवं दक्ष सम्पादन से विद्वत्समाज में अपना परचम लहराने वाली पत्रिका सागरिका का ग्यारहवें वर्ष के तृतीयांक में ‘डॉ. जानकी प्रसाद द्विवेदी’ ने “लोके संज्ञानां व्यवहारः”⁵ नामक लेख में लोक में प्रयुक्त होने वाले संज्ञा व्यवहार का विश्लेषण किया है।

पाणिनि के पूर्वाचार्यों ने भी प्रायः अर्थ के अनुरूप ही संज्ञा का प्रयोग किया है। इसलिए उनके ग्रन्थों में अक्षर-समानाक्षर-सन्ध्यक्षर-अद्यतन-भविष्यत्-क्रियातिपत्ति इत्यादि संज्ञायें दिखाई देती हैं। पाणिनि द्वारा अष्टाध्यायी में 158 संज्ञा शब्द प्रयुक्त किये हैं। तथा इन्होंने उनमें से 91 संज्ञा शब्दों को परिभाषित भी किया है।⁶

सागरिका में ही प्रकाशित संज्ञाधारित शोधालेखों की विवेचना को आगे बढ़ाते हुए पत्रिका के 13वें वर्ष के चतुर्थांक में ‘श्री जगदीश चतुर्वेदी जी के पदस्वरूप समीक्षा शीर्षक से पद की विभिन्न मतों के आधार पर विवेचना प्रस्तुत करते हैं।

सागरिका पत्रिका के छब्बीसवें वर्ष के दितीयांक में भी जानकी प्रसाद द्विवेदी जी संज्ञा व्यवहार के प्रयोजनों पर भी चर्चा करते हैं।⁷ क्योंकि चाहे लोक शास्त्र हो अथवा व्याकरणशास्त्र, संसार में कोई भी बोध संज्ञा बिना सम्भव ही नहीं है। “किसी भी विषय के अर्थ के शीघ्र एवं सन्देह रहित बोध के लिए संज्ञा व्यवहार अनिवार्य है।⁸

त्रैमासिक प्रकाशित होने वाली यह पत्रिका अपने 21वें वर्ष के चतुर्थांक में विनोद कुमार मिश्र रचित “प्रगृह्यसंज्ञा पाणिनीय व्याकरणं प्रातिशाख्यं च।”⁹ प्रकाशित करती है। जिसमें पाणिनिय व्याकरण के प्रगृह्य संज्ञा विधायक सूत्रों का प्रातिशाख्यों के साथ सम्बन्ध को दर्शाया गया है।

श्री मिश्र का प्रगृह्य संज्ञा पर शोध अपने विस्तृत रूप को आकार देते हुए पत्रिका के अग्रिमांक में ‘प्रगृह्य संज्ञा’¹⁰ शीर्षक से प्रकाशित होता है।

संज्ञा व्यवहार के इस लोक में तीन प्रयोजन बताये हैं – (1) पापसमूहस्य प्रणाशः (2) लाघवेन व्यवहारस्य सम्पादनम् (3) गुणादीनां प्रकाशनं च।

सागरिका पत्रिका में प्रकाशित संज्ञाधारित लेखों के आधार पर तो पत्रिका के सम्पादक मण्डल का संज्ञोपरि विशेष प्रेम लक्षित होता है। सारस्वती सुषमा के बाद यह पत्रिका संज्ञा पर सर्वाधिक शोधालेख प्रकाशित करती है। संज्ञा आधारित शोधालेखोपरि इस वार्ता को अग्रिम रूप देते हुए पत्रिका के 26वें वर्ष के द्वितीयांक में प्रकाशित श्रीहरिराम मिश्र पाणिनि सूत्रों में समसामायिक समाज खोजते नजर आये हैं।¹¹

पाणिनि के सूत्रों में स्थित सामाजिक शब्दों को आधार बनाकर तत्कालीन सामाजिक स्थिति को जानने का प्रयास करते मिश्र जी का यह लेख वास्तव में विशिष्ट बन पड़ा है।

श्री हरिराम मिश्र ने स्वलेख में पाणिनि अष्टाध्यायी में आये हुये शब्दों के आधार पर विभिन्न नगरों का उल्लेख किया है। इसी सरणि में ‘काश्यादिभ्यष्ठज्जिठौ’¹² “वाहीकग्रामेभ्यश्च”¹³, “विभाषोशीनरेषु”¹⁴, धन्वयोपप्रस्थपुरवहान्ताच्य”¹⁵ इत्यादि शब्दों का प्रतिष्ठापन किया गया है।

शोधलेखानुसार पाणिनि के समय व्यापार व्यवस्था बड़ी सुनियोजित ढंग से स्थापित थी। इसी को इंगित करते हुए लिखते हैं कि— “पाणिन्यष्टाध्याय्यां व्यवसायार्थे रूढः अनेके शब्दाः विवृताः सन्ति। कुलालचर्मकार—चित्रकार—लिपिकारः, श्लोककार—सूत्रकार, कुम्भकाराद्यनेनक शब्दा व्यवसाय निरतानां बौधकाः सन्तरत्तत्र तत्र प्रयुक्ताः।।”¹⁶

श्री हरिराम मिश्र के लेख में आये हुए ब्रैहेयम्¹⁷ यव्यम्¹⁸ तिल्य¹⁹ तैलीनम्²⁰, गृष्टिः²¹ धेनुः²² इत्यादि शब्दों से तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का सुन्दर ज्ञान होता है।

इसी प्रकार पाणिनिकालीन समाजविषयक यह शोधालेख तत्कालीन समाज का सुष्ठु एवं सम्यक् निरूपण प्रस्तुत करता है।

शब्दशास्त्र के प्रणेता परमाचार्य भगवान् पाणिनि के द्वारा आठ अध्यायों में विभक्त व्याकरण शास्त्र के कोष अष्टाध्यायी का प्रणयन किया गया। इसके प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। अष्टाध्यायी के चौथे पाद में पहले ही णत्व विधायक सूत्रों का परिगणन किया गया है। महर्षि पाणिनि के णत्व विधायक सूत्रों को आधार बनाकर 'श्रीहरिनारायण तिवारी का 'णत्वविधाने पाणिनिः'²³ नामक शोधालेख सागरिका के 26वें वर्ष के द्वितीयांक में प्रकाशित हुआ है। श्री हरिनारायण तिवारी का यह लेख महामुनि पाणिनि द्वारा अभिमत णत्व विधायक सूत्रों की विवेचना प्रस्तुत करता है।

तिवारी जी के शब्दों में पाणिनि के 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' सूत्र की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि— रषाभ्यां नो णः समानपदे, रषाभ्यां पञ्चम्यन्तं निमित्तपदम्। नः षष्ठ्यन्तमुद्देश्यवचनम्। णः प्रथमान्तं विधेयवचनम् समानपदे इतिनियमः। एवं रषाभ्यामप्यवहितोत्तरस्य नस्य णः समानपदे। यथा—यूष्णः पूष्णः इति।²⁴

साररूप में यह लेख महर्षि पाणिनि के णत्व विधायक सूत्रों की सुष्ठु समीक्षा प्रस्तुत करता है।

श्री तिवारी का अष्टाध्याय्युपरि विशेष प्रेम लक्षित होता है एवं अपने मस्तिष्क की जिज्ञासा एवं शोध परक दृष्टि को विस्तार देते हुए पाणिनि परम्परा पर अधिक प्रकाश डालते हुए तिवारी जी 'मित् विषये भगवान् पाणिनिः'²⁵ नामक शोधालेख सागरिका संस्कृत पत्रिका के 27वें वर्ष के द्वितीयांक में प्रकाशित हुआ है। लेख में वे महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी में प्रयुक्त 'मित्' विषयक सूत्रों का सोदाहरण साङ्गपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत करते हैं। तिवारी जी पाणिनि के मित् से तात्पर्य 'म् इत्' से बताते हैं।²⁶

निष्कर्ष

इस प्रकार सागरिका पत्रिका में संज्ञा सम्बन्धी लेखों की एक लम्बी श्रृंखला प्रकाशित हुई है। परन्तु शोध लेख पत्र की सीमा को ध्यान में रखते हुए इन लेखों का सारगर्भित एवं सहज सरल रूप में प्रस्तुतीकरण किया गया है।

संदर्भ

1. लघुशब्देन्दुशेखरे संज्ञाप्रकरणे
2. व्याकरण चन्द्रोदय पंचम् खण्ड पृ.—09
3. पाणिनीय सूत्र 1/4/08
4. व्या.चन्द्र. पंचम् खण्ड, पृ.—413
5. सागरिका, 11/3, पृ. 309—314
6. साग. 11/3, पृ. 312
7. साग. 26/2, पृ. 53—58
8. तत्रैव, 26/2

9. तत्रैव, 21 / 4, पृ. 89–92
10. तत्रैव, 22 / 2, पृ. 117
11. तत्रैव, 26 / 2, पृ. 55–58
12. तत्रैव, 26 / 2, पृ. 55
13. तत्रैव,
14. तत्रैव,
15. तत्रैव,
16. तत्रैव,
17. तत्रैव,
18. तत्रैव,
19. तत्रैव,
20. तत्रैव,
21. तत्रैव,
22. तत्रैव,
23. तत्रैव,
24. तत्रैव,
25. तत्रैव, 27 / 2, पृ.–51–62
26. तत्रैव